

मॉडल उत्तर

हिन्दी साहित्य जांच परीक्षा-2

1. निम्नलिखित काव्यांशों की संदर्भ-सहित व्याख्या (लगभग 150 शब्दों में) प्रस्तुत करते हुए उनके काव्य-सौंदर्य का परिचय दीजिए:

10 × 5 = 50

(क) दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आँवौं हट्ट॥

उत्तर: प्रस्तुत दोहा हिन्दी की भक्तिकालीन संतकाव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर का है और यह श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'कबीर-ग्रंथावली' के 'गुरुदेव को अंग' से उद्धृत है। संतकाव्य की एक प्रमुख विशेषता गुरु के प्रति अनंत कृतज्ञता का ज्ञापन है क्योंकि गुरु ही माया में आबद्ध व्यक्ति को ज्ञान का वह प्रकाश देता है जिसके माध्यम से साधक ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है। उपर्युक्त दोहे में भी कबीर ने ऐसे ही भाव को अभिव्यक्ति दी है।

कबीर कहते हैं कि गुरु ने दीपक को तेल से भर दिया और उसमें ऐसी वर्तिका दी जो कभी समाप्त नहीं होती। इस प्रक्रिया को पूरा करने के बाद हमें दुबारा बाजार आने की ज़रूरत नहीं पड़ी।

उपर्युक्त पंक्तियों में कबीर ने प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कही है। तेल संवेदना को प्रतीकित कर रहा है। सच्चा गुरु शिष्य को सर्वप्रथम अनुभूति एवं संवेदना से भर देता है। गहन मानवीय संवेदना के बिना ज्ञान संभव नहीं है। इसके बाद गुरु शिष्य को ज्ञानरूपी वर्तिका देता है। वह उसकी अनुभूतिशीलता को ज्ञान से जोड़ देता है। यह ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार, उनकी ज्ञान की प्रक्रिया पूरी हुई और फिर संसार में आने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

हट्ट (बाजार) तृष्णा भाव को व्यंजित कर रहा है। जब तक तृष्णा रहेगी तब तक संसार में आना पड़ेगा। गुरु इसे समाप्त कर देता है।

(ख) प्रकृति जोई जाके अंग परी।
स्वान पूँछ कोटिक जो लागे सूधि न काहु करी॥
जैसे काग भच्छ नहिं छाँड़ै जनमत जौन घरी।
धोये रंग जात कहु कैसे ज्यों कारी कमरी?
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी।
सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री॥

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद सूरदास के भ्रमरगीतसार (संपादक- आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है। गोपियों के खीझने पर भी उद्धव योग और निर्गुण-ब्रह्म संबंधी अपना उपदेश जारी रखते हैं जिस पर गोपियाँ और अधिक झल्ला उठती हैं और उन पर तथा उनके स्वभाव पर फब्तियाँ कसना आरम्भ कर देती हैं।

व्याख्या: इस पद में गोपियाँ ने उद्धव पर तीव्र प्रहार किए हैं। वे आपस में कहती हैं कि हे सखी जिस आदमी अथवा प्राणी का जो स्वभाव बन जाता है, जैसी उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति बन जाती है, वह आजीवन बनी रहती है, वह बदलती नहीं और प्रकारांतर से यही उसकी पहचान बन जाती है। गोपियाँ कुत्ते की पूँछ के टेढ़ेपन, कौवा द्वारा जन्म के बाद से ही अभक्ष्य पदार्थ खाना, काले कंबल का रंग का कभी भी सफेद न होना आदि का उदाहरण देते हुए कहती हैं कि इसी तरह की प्रकृति के उद्धव जी भी हैं, इन्होंने निर्गुण ज्ञान और योग की बातों की झक पकड़ी है, उसकी रट लगाये रहते हैं, इनकी भी यह आदत छूटने वाली नहीं है। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं है कि इसका क्या परिणाम होगा? ये तो बस यही समझते हैं कि जो होना है हो, हम अपनी निर्गुण कथा बंद नहीं करेंगे।

काव्य-सौंदर्य:

1. गोपियों ने मानव-स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उद्धव पर मार्मिक कटाक्ष किए हैं।
2. इन पंक्तियों में वाग्वैदग्ध्य की उपस्थिति के कारण अभीष्टार्थ प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुआ है।
3. अर्थान्तर अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।
4. 'धोये....कमरी'— इस पंक्ति के भाव को कवि ने एक अन्य स्थल पर इस प्रकार व्यक्त किया है— 'सूरदास प्रभु कारी कामरि, चढ़े न दूजौ रंगा।'

(ग) “जेठ जरै जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा।
बिरह गाजि हनिवत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा।
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मँदी।
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी।
उधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा।
माँसु खाइ अब हाइन्ह लागा। अबहुँ आउ आवत सुनि भागा।
परबत समुंद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिअै जरै जो अस पिय लागि॥”

उत्तर: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी भक्तिकालीन हिन्दी सूफी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि जायसी के प्रबंध काव्य 'पद्मावत' के 'नागमती वियोग खण्ड' से उद्धृत हैं।

इन पंक्तियों में कवि कह रहा है कि ज्येष्ठ के महीने में सारी पृथ्वी जलने लगी। आँधी के बवंडर उठने लगे और तीव्र ताप के कारण पहाड़ भी दहकने लगे। विरह हनुमान की भाँति गर्जना करते हुए जागृत हो गया और लोगों के (नागमती के) शरीरों को लंका की भाँति दग्ध करने लगा। चारों पवन अपने झोंकों से इस विरह की आग को बढ़ाने लगे और उससे लंका ही नहीं अपितु पलंका तक जल उठी। इस विरहाग्नि में जलकर ही यमुना नदी का जल काला हो गया है। विरह की अग्नि धीमी-धीमी सुलगती आग की तरह अत्यधिक दुस्सह हुआ करती है। आग भड़क उठी है, जबकि अंधड़ भी चल रहा है और इस दुख में ग्रस्त होकर मैं मरी जा रही हूँ। विरहाग्नि में जलकर मैं अधमरी हो उठी हूँ और मेरे शरीर का सारा मांस सूख गया है। विरह रूपी काग मेरे मांस को उसी प्रकार खाए डालता है, जैसे वृक्षित कौआ मांस पर झपटा करता है। विरह-रूपी कौवे ने मेरे मांस का भक्षण करने के पश्चात् अब मेरी हड्डियों को खाना आरंभ कर दिया है। हे प्राणनाथ! आप अब भी आकर मुझे जीवित बचा लीजिए क्योंकि यह आपके आने का नाम सुनते ही भाग खड़ा होगा। नागमती की यह विरहाग्नि जो ज्येष्ठ माह की लुओं के रूप में प्रकट हो रही है, इसको पर्वत, समुद्र, बादल, चन्द्रमा और सूर्य में से कोई भी नहीं सहन कर सकता। कवि मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं कि सती-साध्वी नागमती की सराहना करनी चाहिये जो अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में इस विरहाग्नि को सहन कर रही है।

काव्य सौंदर्य:

1. इन पंक्तियों में विरहानुभूति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसी मार्मिकता के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन को 'हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु' कहा है।
2. ये पंक्तियाँ गार्हस्थिक एवं एकनिष्ठ प्रेम का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं।
3. कवि ने इन पंक्तियों में षड्भूत-वर्णन की कथानक-रूढ़ि को अपनाते हुए जेठ मास का अत्यन्त जीवन्त चित्रण किया है।
4. प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हुए कवि ने नागमती के विरह को सामान्य नारी के विरह के समान ही चित्रित किया है और ऐसा करके उसकी प्रभाव-क्षमता में अद्भुत अभिवृद्धि की है।

5. जायसी ने इन पंक्तियों में लुवारा, बवंडर, दिनअर जैसे ठेठ अवधी के शब्दों का प्रयोग कर कविता को भाषिक मिठास से भर दिया है। इसी प्रवृत्ति के कारण जायसी की अवधी को 'अवधी का अरघान' कहा गया है।
6. 'लंका छोड़कर पलंका जा पहुँचने' की लोकोक्ति का सफल प्रयोग किया गया है तथा उपमा एवं रूपक अलंकार के प्रयोग द्वारा काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि की गई है।

(घ) **किसबी किसान कुछ बनिक भिखारी भाट
चाकर, चपल नट, चोर, चार चेटकी।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटन गहन बन अहन अखेटकी।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।**

संदर्भ: प्रस्तुत पंक्तियाँ कवि कुल शिरोमणि तुलसीदास द्वारा विरचित कवितावली के उत्तरकाण्ड के एक कवित्त से ली गई हैं।

व्याख्या: मजदूर, किसानों का समूह, वणिक, भिखारी, भाट, नौकर, चंचल नट, चोर, हलकारे और तमाशा करने वाले बाजीगर सभी पेट के लिये अनेक गुणों को सीखते हैं, पहाड़ों पर चढ़ते हैं और गहन वनों में जाकर, दिन-दिन भर वहाँ रहकर शिकार करते हैं। पेट के लिये ही वे ऊँचे-नीचे कर्म तथा धर्म-अधर्म करते हैं यहाँ तक कि पेट के लिये ही वे अपने बेटे और बेटी को भी बेच देते हैं।

काव्य सौंदर्य:

1. कवि ने 'भूख' के प्रभावों का अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। पेट की भूख मिटाने के लिये बच्चों को बेचने की घटनाएँ आज भी हमारे देश में हो रही हैं।
2. सामान्यतः तुलसी पर कुछ वामपंथी समीक्षकों द्वारा सामंतवादी मानसिकता का आरोप लगाया जाता है परंतु ये पंक्तियाँ तुलसी के गरीबों का समर्थन करने वाले पक्ष को दर्शाती हैं। संभवतः इसीलिये वामपंथी समीक्षा के शलाका पुरुष रामविलास शर्मा ने कहा है कि आज के सभी कवियों ने मिलाकर भी गरीबी पर उतना नहीं लिखा जितना अकेले तुलसी ने लिखा है।
3. इन पंक्तियों में 'कवित्त' का प्रयोग हुआ है जो एक वार्णिक छंद है, अतः इन पंक्तियों में एक स्वाभाविक नादात्मकता है।
4. वृत्तानुप्रास, छेकानुप्रास व अंत्यानुप्रास की छटा दर्शनीय है। संभवतः इसीलिये आचार्य शुक्ल ने कवियों को सलाह दी है कि वे अगर तुलसी से सीख पाएँ कि अनुप्रास कैसे लाना है तो अर्थन्यूनत्व के दोष से बच जाएँगे।

(ङ) **आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े॥
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखें ते राँड़े।
कहौ मधुप, कैसे समायेंगे एक म्यान दो खाँड़े॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथि के संग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत भाँड़े॥
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाँड़े॥**

संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत पद भक्तिकालीन कृष्णकाव्यधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के पदों के संग्रह भ्रमरगीतसार (सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल) से लिया गया है।

प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्वेग के ज्ञान का उपहास कर रही हैं। गोपियाँ उद्वेग को अव्यावहारिक मान रही हैं, जो सिर्फ ज्ञान का भार ढो रहे हैं।

व्याख्या: गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य करती हुई आपस में कह रही हैं— हे सखी! ये पण्डित हमें योगशास्त्र की शिक्षा देने आए हैं। ये ज्ञानी उपदेशक पुराणों की शिक्षा को लादे वैसे ही घूम रहे हैं जैसे बनजारे व्यापार का माल लादे घूमते फिरते हैं। हमारी मर्यादा तो श्रीकृष्ण के शरण में ही है। यह योग तो वही सिखेगा, जो एकाकी है। हे उद्धव! तुम यह बताओ कि एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं। हे भ्रमर (उद्धव)! कोई हाथी के साथ गन्ने कैसे खा सकता है? हमें यह तो बताओ कि बिना मीठी रोटी, घी और दूध खाए मात्र हवा से (प्राणायाम से तात्पर्य है) किसी की भूख मिट सकती है? भला हमने कौन-सी ऐसी चोरी की है जिसके लिये तुम अपनी नीरस एवं कठोर बातों से हमें दण्ड दे रहे हो। हे उद्धव! यह जान लो कि धनिया, धान और कुष्माण्ड ये तीनों एक ही साथ (एक ही ऋतु में) नहीं उपजते।

काव्य सौंदर्य

1. इस पद में प्रेमभाव की गहनता एवं एकनिष्ठता व्यंजित हुई है।
 2. सूरदास ने इस पद में गोपियों के माध्यम से ज्ञान और योगमार्ग पर तीव्र प्रहार किया है और सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की है।
 3. पूरे पद में वक्रोक्ति की छटा विद्यमान है।
 4. गोपियों द्वारा कृष्ण-प्रेम के परित्याग को असंभव बताने के क्रम में लोकजीवन के प्रसंगों का सूर ने रचनात्मक इस्तेमाल किया है।
 5. 'परमारथी पुरानि लादे' कथन में व्यंग्य भाव अति तीव्र हो उठा है।
2. (क) 'शृंगार रस का ऐसा सुंदर उपालम्भ-काव्य दूसरा नहीं है।' सूरदास के भ्रमरगीत के संदर्भ में इस कथन के औचित्य पर विचार कीजिए। 20

उत्तर: उपालम्भ का अर्थ 'उलाहना' होता है। साहित्य में उपालम्भ प्रायः एक रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होता रहा है और भ्रमर-गीत परम्परा में तो इसे एक विशिष्ट अभिव्यक्ति शैली के रूप में अपनाया गया है। सूर ने अपने भ्रमर-गीत में उपालम्भ के जरिए गोपियों की विरह पीड़ा को मुखर किया है। उपालम्भ के मूल में यह मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है कि किसी भाव के चरम पर पहुँचे व्यक्ति का कथन अभिधात्मक नहीं रह जाता बल्कि उसमें वक्रता आ जाती है। गोपियाँ विरहजन्य पीड़ा से उत्पन्न भावों के शिखर पर हैं; इसलिये उनके कथनों में बाँकपन आ गया है जिससे वाग्विदग्धता पैदा हुई है। और, इसी वाग्विदग्धता, मार्मिकता और भावुकता ने सूर के भ्रमर-गीत को एक आदर्श उपालम्भ काव्य में ढाल दिया है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि "शृंगार रस का ऐसा सुंदर उपालम्भ काव्य दूसरा नहीं है।"

सूर के भ्रमर-गीत में उपालम्भ सिर्फ रूढ़ि-पालन के लिये नहीं आया है। गोपियाँ उलाहने की मुद्रा में तब आती हैं जब उन्हें लग जाता है कि उद्धव उनकी भावनाओं को समझे बिना ही उनके मन में निर्गुण ज्ञान को स्थापित कर देने पर आमादा हैं। गोपियाँ कृष्ण, उद्धव, कुब्जा, प्रकृति और नगरीय जीवन के प्रति उपालम्भ करती हैं। सूर के भ्रमर-गीत में उपालम्भ सिर्फ गोपियाँ ही नहीं करतीं बल्कि यशोदा भी करती हैं। नन्द कृष्ण को लेकर मथुरा चले गए, किंतु लौटकर वे अकेले ही आए हैं। इस पर यशोदा का मातृ-हृदय दुःख से फट पड़ता है और वे नन्द पर बरस पड़ती हैं—

“नंद! ब्रज लीजै ठोकि बजाय।

देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहाँ गोकुल के राय।”

सूर की गोपियाँ अपने उपालम्भ में कृष्ण की भ्रमर वृत्ति को निशाना बनाती हैं। उन्हें दुख है कि एक तो कृष्ण उनसे मिलने तो नहीं आ रहे हैं; ऊपर से उद्धव को भेजकर उन्हें योग संदेश सिखाना चाहते हैं ताकि वे प्रेम-क्षमता से ही वर्चित हो जाएँ। वे नाराजगी से भरकर उद्धव से कहती हैं—

“हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

इक अति चतुर हुते पहले ही, अरु करि नेह दिखाए।

जानी बुद्धि बड़ी जुवतिन को, जोग संदेस पठाए।”



गोपियाँ उद्धव के प्रति भी तीखे व्यंग्य करती हैं-

“आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आन उतारी।”

गोपियाँ प्रकृति और नगरीय जीवन के प्रति भी उलाहना करती हैं-

“वह मथुरा काजर की कोठरी, जे आवहिं ते कारे।”

सूर के उपालम्भ काव्य का मूल्यांकन करते हुए यह देखना भी जरूरी है कि हिन्दी के अन्य कवियों के यहाँ उपालम्भ की क्या स्थिति है? वस्तुतः अन्य कवियों के यहाँ कहीं-कहीं उपालम्भ की झलक चाहे मिल जाए किंतु न तो वह बहुत स्पष्ट है और न ही व्यापक।

सच यही है कि उपालम्भ के क्षेत्र में जो अद्भुत सफलता सूर को मिली है, शेष कवि उसके आसपास भी नहीं पहुँच सके हैं। विस्तार और गहराई-दोनों दृष्टियों से सूर का ‘उपालम्भ’ बेजोड़ है।

(ख) कबीर के दर्शन पर प्रकाश डालिये।

15

उत्तर: कबीर मूलतः भक्त हैं, दार्शनिक नहीं। वे साक्षर भी नहीं थे कि विभिन्न दर्शन ग्रंथ पढ़ सकें। किंतु, वे बहुश्रुत थे और उन्होंने विभिन्न दर्शन-सरणियों को पर्याप्त मात्रा में सुना था। उनके पास कोई निश्चित और पूर्व निर्धारित दार्शनिक सिद्धांत नहीं था। उन्होंने विभिन्न स्रोतों से विभिन्न विचारों को ग्रहण किया। उन पर भारतीय औपनिषदिक चिंतन, शंकर के अद्वैतवाद, नाथपंथियों की योग-साधना, सूफियों के भावनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों की जीवन दृष्टि का प्रभाव पड़ा। ब्रह्म, आत्मा, शरीर, जगत आदि विभिन्न सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में उनके दर्शन का विवेचन किया जा सकता है।

ब्रह्म

ब्रह्म के संदर्भ में कबीर की दृष्टि मूलतः अद्वैतवादी है जिसके अनुसार ब्रह्म एक है और वही सत् है। कुछ आलोचकों ने कबीर के ब्रह्म विचार पर शंकर के अद्वैतवाद तथा इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव माना है। सच यह है कि कबीर के एकेश्वरवाद पर शंकर का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। इसका प्रमाण यह है कि इस्लामी एकेश्वरवाद में जगत को सत् माना गया है जबकि शंकर के अद्वैतवाद की तरह कबीर ने जगत को मिथ्या माना है-

“रहना नहीं देस बिराना है।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुलि जाना है॥”

कबीर का ब्रह्म निर्गुण है। यह अवतारवादी सिद्धांतों पर आधारित सगुण ईश्वर नहीं है। उन्होंने सगुणता का सायास खंडन भी किया है।

“दसरत सुत तिहुँ लोक बखाना।

राम नाम का मरम है आना॥”

आत्मा

कबीर ने अद्वैतवाद के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए माना कि ब्रह्म और आत्मा एक हैं। आत्मा नित्य तथा पारमार्थिक सत्ता है। जीव पर माया का आवरण होने के कारण उसे आत्मा और ब्रह्म में अंतर प्रतीत होता है। ज्ञान होने पर वह माया के आवरण से मुक्त हो जाता है। इसलिये वे स्पष्ट कहते हैं-

“जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, इहै तथ कहै गियानी॥”

शरीर

शरीर के संबंध में कबीर का मत गीता दर्शन से मेल खाता है। वे मानते हैं कि शरीर पंचतत्वों से निर्मित है जिसमें तीन गुणों-सत्व, रजस् तथा तमस् का समावेश है। इसकी भूमिका वही है जो ‘आत्मा का वस्त्र’ कहकर व्यक्त की जाती है। वे मानते हैं कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यभावी है। वे कहते हैं-



“जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाई।
जो चिणियां सो ढहि पडै, जो आया सो जाई॥”

जगत

जगत संबंधी दृष्टि में कबीर अद्वैतवेदांत के ज्यादा निकट हैं क्योंकि उन्होंने बार-बार जगत की निस्सारता पर बल दिया है। वे शंकर की तरह जगत को ब्रह्म का विवर्त या आभास मानते हैं। उनका प्रसिद्ध कथन है—

“झूठै झूठ रह्यौ उरझाई, साँचा अलख जग लखा न जाई॥”

माया

कबीर ने माया की व्याख्या अद्वैतवादी दृष्टिकोण से की है और उसे साधक को दिग्भ्रमित करने वाली दुष्ट शक्ति के रूप में परिभाषित किया है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर ने किसी स्वतंत्र दार्शनिक चिंतन का सूत्रपात नहीं किया, लेकिन वे अपनी दार्शनिक चेतना को अलग-अलग स्रोतों से ग्रहण करते हुए उस पर अपनी अनुभूति की मुहर लगाते हैं। कबीर का दर्शन पाठक को तटस्थ ज्ञान की शुष्कता में नहीं छोड़ता, बल्कि वह जीवन के नितांत आत्मीय और जीवंत प्रसंगों के संसार में ले जाता है। ब्रह्म, जीवन-मृत्यु, जगत और माया कबीर के दर्शन में मात्र शब्द नहीं हैं, अपितु अनुभव के जीवंत प्रसंग हैं जिनके माध्यम से कबीर सत्य की उपलब्धि करते हैं और साथ ही साथ असत्य की छाया से पाठक को आगाह करते हैं। दर्शन कबीर के यहाँ उद्देश्य नहीं है वरन् भक्ति का साधन है। इस रूप में वह पर्याप्त भी है और प्रासंगिक भी।

(ग) क्या ‘भ्रमरगीतसार’ को निर्गुण मत पर सगुण मत की विजय का काव्य मानना उचित है? तार्किक उत्तर दीजिए। 15

उत्तर: भ्रमरगीतसार में सूरदास ने कृष्ण द्वारा गोपियों को संदेश प्रेषण की कथा को एक नवीन आयाम देते हुए निर्गुण ब्रह्म अपनाने की सलाह के रूप में बदल दिया है और गोपियों को सगुण भक्ति के दृढ़ स्तम्भों के रूप में चित्रित किया है। भ्रमरगीतसार की गोपियाँ उद्धव की शुष्क तथा जटिल ज्ञानमार्गी बातों से परेशान हैं। किन्तु, यहाँ उनका मूल उद्देश्य निर्गुण-सगुण का खंडन मंडन नहीं है। वे तो केवल अपने प्रेम मार्ग पर बने रहना चाहती हैं। पर जब उद्धव किसी तरह नहीं मानते तो गोपियाँ उनसे निर्गुण के विषय में तरह-तरह के प्रश्न पूछना प्रारंभ करती हैं—

“निर्गुन कौन देस को बासी?”

“रेख न रूप बरन जोके नहिं ताकों हमें बतावत।

अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?”

यहाँ गोपियों की इच्छा उद्धव को पराजित करने की नहीं है बल्कि उनसे पीछा छुड़ाने की है ताकि वे उन्हें निर्गुण का पाठ न पढ़ायें। पर उद्धव नहीं मानते। तब गोपियाँ स्पष्ट करती हैं कि उनके लिये कृष्ण के अतिरिक्त किसी और से मन लगाना संभव नहीं है।

गोपियाँ उद्धव की बातों का जवाब देने के लिये उसका सीधा-सीधा मजाक भी उड़ाती हैं। गोपियाँ नहीं चाहती कि निर्गुण रूपी कांटे उनके प्रेममार्ग के राजपथ को रोकें। इसलिये वे ऊधौ से प्रकृति का संदेश सुनने को कहती हैं—

“ऊधौ कोकिल कूजत कानन।

तुम हमको उपदेश करत हो भस्म लगावत आनन।”

अंततः इस वाग्विदग्धतापूर्ण बहस के बाद गोपियाँ विजय प्राप्त करती हैं और उद्धव भी अपने निर्गुण मार्ग को छोड़कर सगुण के प्रति आकृष्ट होने लगते हैं वे कहते हैं—

“अब अति पंगु भयो मन मेरो।

गयो तहाँ निर्गुण कहिवे को भयो सगुण को चरो॥”

निश्चित रूप से इस बहस में निर्गुणमार्गी उद्धव पर सरल-सहज निरक्षर गोपियाँ भारी पड़ती हैं और उद्धव को मुंह की खानी पड़ती है और इस रूप में सीमित अर्थों में इसे निर्गुण मत पर सगुण मत की विजय का काव्य माना जा सकता है। परंतु, इसे निर्गुण पर सगुण की विजय का काव्य मानना उचित नहीं है।

भ्रमरगीतसार मूल रूप से भक्ति काव्य है और इसके कई श्रेष्ठ पदों का सगुण-निर्गुण विवाद से कोई लेना देना नहीं। केवल प्रेममार्गी रागानुगा भक्ति का प्रतिपादन ही उनका लक्ष्य है। जैसे-

“निरखत अंक श्याम सुंदर के, बार-बार लावति छाती।

लोचन जल कागद मसि मिलि कै हवै गई श्याम-श्याम की पाती॥”

इसके अतिरिक्त उद्धव व गोपियों के बीच की बहस तार्किक बहस नहीं है। सूर ने उद्धव को कुछ बोलने का अधिकार दिया ही नहीं है उनके यहाँ गोपियों की हर व्यंग्य उक्ति पर उद्धव को चुप रह जाना होता है। अतः भ्रमरगीतसार को भक्तिपरक वियोग शृंगार का काव्य मानना अधिक बेहतर विकल्प हो सकता है।

3. (क) कबीर की काव्य-भाषा पर विचार कीजिये।

20

उत्तर: कबीर की भाषा के काव्यगत औचित्य पर काफी विवाद है। आभिजात्य दृष्टिकोण से परीक्षा करने पर यह अकाव्योचित प्रतीत होती है तो लोकवादी दृष्टिकोण से देखने पर कबीर ‘भाषा के बादशाह’ नजर आने लगते हैं। आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की एक प्रसिद्ध टकराहट कबीर की भाषा के मूल्यांकन को लेकर भी है। आचार्य शुक्ल कबीर की कवित्व क्षमता से प्रभावित होकर भी उनकी भाषागत साधारणता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- “भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है।” दूसरी ओर, आचार्य द्विवेदी कबीर की भाषा का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि “भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे।”

कबीरदास की भाषा में सबसे बड़ा गुण है-संदर्भ विशेष में सटीक शब्द का प्रयोग करने की क्षमता। जब वे मुल्लों पर आक्रमण करते हैं तो उनकी भाषा में उर्दू-फारसी शब्द बढ़ जाते हैं; पंडों पर आक्रमण करते हुए तत्सम और तद्भव शब्द ज्यादा आते हैं और हठयोग चर्चाओं में साधनात्मक रहस्यवाद की शब्दावली प्रबल हो जाती है। सटीक शब्द चयन की क्षमता सबसे सुंदर रूप में निम्नलिखित उदाहरण में दिखती है -

“मैं तो कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ,
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउँ।”

कबीर की भाषा की दूसरी सबसे बड़ी शक्ति है उनकी व्यंग्य क्षमता। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में कहें तो “अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़कर चल देने के सिवा कोई और रास्ता नहीं पाता।” पंडों और मुल्लों के प्रति उनके व्यंग्यों की आक्रामकता निम्नलिखित उदाहरणों में दिखती है-

“मूंड मुड़ाए हरि मिले, सब कोई लेय मुड़ाय,

बार-बार के मूंडते, भेड़ न बैकुंठ जाय।”

“काँकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लइ बनाय।

ताँ चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।”

ऐसा नहीं कि कबीर सिर्फ आक्रामकता के कवि हैं। कबीर ईश्वर के विरह और मिलन के प्रसंगों में सूफियाना भावों से इस कदर भर उठता है कि उसकी भाषा शृंगार रस और माधुर्य गुण के बड़े-बड़े कवियों को पछाड़ देती है। कबीर की निम्नलिखित कविताएँ शायद विद्यापति, सूर और बिहारी की भाषिक क्षमताओं के लिये भी चुनौती पेश करती हैं-

“तलफै बिन बालम मोर जिया,

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया।”

कबीर मूलतः कवि नहीं हैं। वे तो स्पष्टतः कहते हैं कि “जिन तुम जान्यौ गीति हैं, वह निज ब्रह्म विचार।” वे निरक्षर भी हैं- “कागद मसि छवो नहीं, कलम गहि नहिं हाथ।” वे संस्कृत भाषा भी नहीं जानते कि उन्हें भाषा के काव्यशास्त्रीय मानदण्डों

की जानकारी हो। वे तो संस्कृत को कुएँ का सड़ा पानी बताते हैं और उद्बाहु घोषणा करते हैं— “संस्करत है कूपजल, भाखा बहता नीरा।” स्पष्ट है कि ऐसे कवि की भाषा में काव्य के शोभाकारक धर्मो-अलंकार, गुण, प्रतीक, बिम्ब, शब्द-शक्ति तथा संगीतात्मकता आदि का मोह नहीं दिख सकता। कबीर इन सभी तत्वों के प्रति बेरुखी की हद तक उदासीन हैं।

किन्तु, इस उदासीनता के बावजूद कबीर की भाषा इन गुणों से वंचित नहीं है। प्रतीकों और अलंकारों के असंख्य उदाहरण उनकी कविताओं में भरे हैं।

स्पष्ट है कि साहित्यिक व सुसंस्कृत भाषा के प्रति बेरुखी के बावजूद कबीर की भाषा असाहित्यिक या अकाव्योचित नहीं है। हठयोग से संबंधित प्रसंगों में उनकी भाषा जरूर अप्रतीतत्व तथा क्लिष्टत्व दोषों से युक्त है किन्तु वह उनकी कविता का अत्यंत सीमित अंश है। उनके समग्र काव्य को देखें तो यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि वे साहित्य में आभिजात्य भाषा के बरक्स लोक-भाषा की परंपरा के ध्वजवाहक हैं। यह वही परंपरा है जिसे आधुनिक काल में प्रेमचंद जैसे रचनाकारों ने बुलंद किया है।

(ख) “‘भ्रमरगीत’ में वचन की भाव प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत अंतर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है।” इस कथन के संदर्भ में सूर के भ्रमरगीत पर विचार कीजिये। **15**

उत्तर: वक्रता दो प्रकार की होती है— ‘भाव-प्रेरित’ और ‘बुद्धि-प्रेरित’। किसी भाव के शिखर बिंदु पर पहुँचा व्यक्ति अभिधात्मक शैली में अपनी बात नहीं कह पाता, उसके कथनों में वक्रता आ ही जाती है। यही वक्रता ‘भाव-प्रेरित वक्रता’ कहलाती है। कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो वक्रताजन्य सौंदर्य को साधने के लिये बुद्धि का दोहन करना चाहते हैं, जिससे ‘बुद्धि-प्रेरित वक्रता’ उत्पन्न होती है। आचार्य शुक्ल ने ‘भ्रमरगीत सार’ की भूमिका में वक्रता के दोनों प्रकारों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए विस्तारपूर्वक बताया है कि कविता के लिये ‘भाव प्रेरित वक्रता’ ही काम्य होती है। हिन्दी के एक हजार वर्षों के साहित्य में भाव प्रेरित वक्रता का चरम उदाहरण यदि कहीं दिखता है तो ‘भ्रमरगीत’ में, जहाँ गोपियों ने अपने विरहदग्ध हृदय की पीड़ा को असंख्य टेढ़-मेढ़ तरीकों से व्यक्त किया है।

गोपियाँ अत्यंत भावुक हैं और वे कृष्ण से गहरा प्रेम करती हैं। उनके लिये प्रेम जीवन की एक जरूरत नहीं, जीवन का आधार या अस्तित्व की शर्त है। उनका मूल व्यक्तित्व गहरी भावनाओं से ही निर्मित हुआ है। वे चाहती हैं कि कृष्ण उनसे मिलने आएँ, लेकिन कृष्ण ने स्वयं आने के स्थान पर उद्धव को भेज दिया है जो अत्यंत शुष्क, नीरस, ज्ञानी, योगी और निर्गुणमार्गी व्यक्ति है। गोपियाँ नहीं चाहती कि वे अतिथि का निरादर करें किन्तु उनके गहरे प्रेम से उत्पन्न होने वाली पीड़ा — दूसरे शब्दों में कहें तो प्रेम प्रसूत अंतर्वृत्तियाँ — उन्हें मजबूर कर देती हैं कि वे अपनी तिक्तता को व्यक्त करें। इसी मनोवैज्ञानिक बिन्दु पर ‘भ्रमरगीत’ में एक सुंदर उपालम्भ काव्य और प्रभावशाली वाग्वैदग्ध्य शैली का जन्म हुआ है।

प्रेम की स्वाभाविक विशेषता यह है कि प्रेम करने वाला अपने प्रेम के विरुद्ध कुछ सुन नहीं सकता। वह अपने प्रेम को सही सिद्ध करने के लिये तर्क जुटाता है। गोपियों ने भी अपने भाव-प्रेरित वक्र-कथनों के माध्यम से तर्क दिये हैं, जैसे—

“उर में माखन चोर गड़े।

अब कैसेहूँ निकसति नाहीं तिरछे हूँ जु अड़े।”

प्रेम करने वाला यदि अपने प्रेम को अपमानित होते हुए देखे तो उसे क्रोध आता है। उसकी उक्तियाँ कटु होने लगती हैं, कथनों में तिक्तता आने लगती है। यह तिक्तता साहित्य में उपालम्भ कहलाती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

“हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

इक अति चतुर हुते पहले ही, अरु करि नेह दिखाए।

जानी बुद्धि बड़ी जुवतिन को, जोग संदेस पठाए।”

प्रेम करने वाला यदि किसी के विचारों से अपने प्रेम को अपमानित होते देखता है तो वह भी उसके विचारों का मजाक उड़ाने से नहीं चूकता, उसके सिद्धांतों पर प्रश्न खड़ा करने से नहीं चूकता। यही गापियों ने भी किया है—

“रेख न रूप, बरन जाके नहिं, ताको हमैं बतावत।

अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?”

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'भ्रमरगीत' में वचन की भाव प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत अंतर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है।

(ग) वर्तमान जीवन-संदर्भों में तुलसी की रामराज्य परिकल्पना की सार्थकता पर विचार कीजिए। 15

उत्तर: प्रत्येक युग का महान रचनाकार न सिर्फ अपने युग की अमानवीय स्थितियों और शक्तियों की पहचान करता है, बल्कि उसके समानान्तर एक वैकल्पिक व्यवस्था का स्वप्न भी प्रस्तुत करता है। तुलसी का रामराज्य एक ऐसा ही स्वप्न है जो अपने भीतर मानवीय और लोकोन्मुख समाज-व्यवस्था का प्रारूप लिये हुए हैं। रामराज्य में किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं व्यापती-

“दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य काहुहिं नहीं व्यापा।”

तुलसी ने तत्कालीन समाज की समस्याओं के निराकरण के लिये जिस 'रामराज्य' की कल्पना की थी, वैसे आदर्श राज्य की आवश्यकता आज के परिदृश्य में भी विद्यमान है।

तुलसी ने 'रामराज्य' का पहला लक्षण लोगों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति बताया-

“राम राज राजत सकल, धरम निरत नर नारि

राग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि।”

आज एक लोक कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य भी लोगों को आधारभूत सुविधायें (भोजन, आवास व जल) उपलब्ध कराना है। तुलसी ने अपने आदर्श राज्य में एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जहाँ सभी का स्वास्थ्य उत्तम होगा, कोई गरीब व दुखी नहीं होगा व सभी साक्षर होंगे-

“अल्प मृत्यु नहिं कवनिऊ पीरा, सब सुंदर सब विरुज सरीरा;

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना, नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।”

आज मानव विकास सूचकांक के मुख्य मानक भी यही हैं जिनकी कल्पना तुलसीदास ने मध्य काल में की थी।

तुलसी का मानना था कि राजा को जनता के प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिये- “जासु राज प्रिय प्रजा, दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी”। आज 'अच्छे अभिशासन' का मुख्य तत्व यही 'प्रतिबद्धता' (जवाबदेही व उत्तरदायित्व) ही है।

इस प्रकार तुलसी के विचार व समाज दर्शन देश व काल की सीमाओं से परे हैं और आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं जितने मध्यकाल के सामंतवादी युग में थे।

4. (क) 'रामचरितमानस' के महाकाव्यत्व पर विचार कीजिये। 20

उत्तर: हिन्दी साहित्य के एक हजार वर्षों की परंपरा में रामचरितमानस को सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। यदि लोक-प्रभाव और लोकप्रसिद्धि की दृष्टि से देखें तो यह संभवतः पूरे विश्व का सफलतम महाकाव्य है क्योंकि किसी भी अन्य महाकाव्य को करोड़ों लोग प्रातःस्मरणीय व अनुकरणीय मानते हों, इसमें संदेह है। सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से भी रामचरितमानस का कोई मुकाबला नहीं है क्योंकि भारत की सामासिक संस्कृति के निर्माण से लेकर धर्म, मर्यादा और परिवार जैसी संरचनाओं को आदर्श आकार देने में इसने अतुलनीय भूमिका निभाई है। शिल्प व कला की दृष्टि से भी इसकी महाकाव्यात्मक ऊँचाई शेष महाकाव्यों को चुनौती देती आई है।

काव्यशास्त्र में महाकाव्यत्व का निर्धारण दो प्रकार के प्रतिमानों के आधार पर होता है- पारंपरिक व आधुनिक। पारंपरिक प्रतिमानों में समग्र सांस्कृतिक चित्रण, नायक का धीरोदात्त होना, आठ या अधिक सर्गों की उपस्थिति, छंद वैविध्य, चारों पुरुषार्थों का वर्णन तथा वीर, शृंगार या शांत किसी एक का अंगीरस होना महत्वपूर्ण है। आधुनिक साहित्य चिन्तन में महाकाव्यत्व के निर्धारण हेतु कुछ आंतरिक लक्षणों पर बल दिया जाता है, जैसे उदात्त कार्य, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव, उदात्त कथानक, उदात्त प्रभाव तथा उदात्त शैली इत्यादि। जहाँ तक रामचरितमानस का प्रश्न है, वह दोनों ही दृष्टियों से श्रेष्ठ महाकाव्य है।

पारंपरिक दृष्टि से रामचरितमानस का अंगीरस 'शांत' है जो महाकाव्योचित है। अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक परिदृश्यों का वर्णन तो इसमें किया ही गया है, साथ ही प्रत्येक अंतर्विरोध और बिखराव के शमन की चेष्टा भी विद्यमान है। इसके नायक राम का चरित्र हर दृष्टि से धीरोदात्त है। रचना का प्रभाव नैतिक दृष्टि से उत्कर्षकारी है। इसमें छंद वैविध्य कुछ कम है और काण्ड भी सात ही हैं, किंतु इन एकाध अपवादों को छोड़ दें तो यह महाकाव्य की सभी कसौटियों पर खरा उतरता है।

रामचरितमानस के महाकाव्यत्व का ज्यादा बेहतर मूल्यांकन आधुनिक कसौटियों के आधार पर किया जा सकता है। इस दृष्टि से महाकाव्य का पहला लक्षण है ‘उदात्त भाव’। रामचरितमानस का मुख्य भाव ‘शांत’ है जो रामराज्य की स्थापना तथा सभी व्यक्तियों के दैहिक, दैविक व भौतिक ताप के नष्ट होने से अर्जित हुई है। इसमें शांत के अतिरिक्त वीर रस भी पर्याप्त मात्रा में है किंतु यह वीरता मध्यकाल के सामंतों वाली नहीं है जो सिर्फ अपने स्वार्थ व लालच पर टिकी हुई हो। यह क्षात्र-धर्म पर टिकी वीरता है जिसके मूल में लोकमंगल का भाव है। राम लोकमंगल के लिये ही अवतरित हुए हैं-

“जब जब होय धरम कै हानी। बाढ़ैं असुर अधम अभिमानी।

तब-तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥”

महाकाव्य का दूसरा लक्षण है ‘उदात्त चरित्र’। रामचरितमानस के ‘राम’ भारतीय साहित्य परंपरा के सबसे उदात्त नायक हैं। वीरता, शक्ति, शील, विनम्रता, त्यागशीलता आदि का सम्मिश्रण उनके चरित्र को चरम उदात्तता प्रदान करता है।

जहाँ तक ‘उदात्त प्रभाव’ का प्रश्न है, इस दृष्टि से रामचरितमानस का कोई सानी नहीं है। मध्यकाल की बिखरती हुई पारिवारिक मर्यादाओं को पुनः संगठित करने में इसकी अप्रतिम भूमिका रही है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन के हर पक्ष के बिखराव को अपनी समन्वय चेतना से परस्पर जोड़ देने की दृष्टि से भारतीय समाज इस कविता का ऋणी है। उदाहरण के लिये, निम्नलिखित पंक्तियों में निर्गुण-सगुण समन्वय तथा शैव-वैष्णव समन्वय की चेष्टा दिखाई पड़ती है-

“सगुनहिं अगुनहिं नहीं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥”

“शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर मोहिं सपनेहुं नहिं भावा॥”

रामचरितमानस का कथानक भी उदात्त है। ‘उदात्त कथानक’ की शर्त है कि सामाजिक जीवन की समग्रता को उभारने के लिये उसमें पर्याप्त घटनाएँ हों, विभिन्न घटनाओं में संबंध-निर्वाह व आनुपातिक मर्यादा समुचित हो तथा परिस्थितियों की जटिलता ऐसी हो कि कथानक से पैदा होने वाला तनाव पाठक को अपने भीतर डुबा ले। रामचरितमानस सिर्फ राम की कथा नहीं है बल्कि राम के माध्यम से संपूर्ण समाज की कथा है। वह मानवों के साथ-साथ मानवोत्तर प्राणियों जैसे वानरों, भालुओं व जटायु जैसे पक्षियों की भी कथा है। अतः यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड को चेतना के स्तर पर समेटने वाली कविता है। इसमें जीवन की सारी समस्याएँ विद्यमान हैं चाहे वे सामाजिक हों, राजनीतिक या आर्थिक। साथ ही इन सभी के समाधान भी हैं। कथानक की जटिलता अत्यंत प्रभावी है। राज्याभिषेक के समय वनवास की घोषणा का प्रसंग हो या वनवास के भीतर दुनिया के सबसे ताकतवर राजा द्वारा पत्नी सीता के हरण का प्रसंग हो, इन महाजटिल परिस्थितियों ने कथानक को नाटकीय तनाव से संपन्न किया है।

रामचरितमानस में ‘उदात्त कार्य’ भी विद्यमान हैं। इसमें कार्य है सीता की मुक्ति तथा रामराज्य की स्थापना। सीता की मुक्ति पत्नी की मुक्ति के रूप में तो उदात्त है ही, व्यापक अर्थ में यह सिर्फ पत्नी की मुक्ति न होकर नारी की मुक्ति तथा अन्यायपूर्ण शक्ति के चंगुल से किसी भी प्राणी की मुक्ति का प्रतीक है। रामराज्य भी सिर्फ राम की राजनीतिक उपलब्धि न होकर विश्व के हर प्राणी की दैहिक-दैविक भौतिक तापों से मुक्ति है।

रामचरितमानस की शैली भी औदात्य से संपन्न है। इसकी भाषा लोकजीवन में प्रचलित अवधी है किंतु तुलसी ने संस्कृत शब्दावली का अवधीकरण करते हुए उसके रस को भी इसमें शामिल कर दिया है। चरित्र-योजना में अद्भुत सूक्ष्मता, अनुप्रासों की बादशाहत, ध्वनि-मैत्री का सर्वश्रेष्ठ स्तर और रूपक व सांगरूपक का सधा हुआ प्रयोग-इन विशिष्ट खूबियों के साथ-साथ काव्य के सभी शोभाकारक धर्मों के संतुलित प्रयोग ने रामचरितमानस को ऐसी काव्यशैली से संपन्न किया है कि आज तक कोई प्रबंधकाव्य इसकी बराबरी नहीं कर सका है।

(ख) कबीर की भक्ति-भावना के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

15

उत्तर: कबीर की साधना पद्धति संश्लिष्ट है जो योग, ज्ञान और भक्ति सभी मार्गों से गुजरती है। तब भी, यह निश्चित है कि कबीर का मूल व्यक्तित्व भक्त का व्यक्तित्व है, योगी या ज्ञानी का नहीं। ईश्वर के प्रति उनकी सबसे गहरी तन्मयता उन्हीं क्षणों में दिखती है जब वे भक्ति की अतल गहराइयों में डूबे होते हैं और ईश्वर के साथ भावनात्मक ऐक्य की अनुभूति कर रहे होते हैं। कबीर की भक्ति की विशिष्टता यह है कि यह परंपरागत भक्ति पद्धति का अंधानुकरण नहीं है, निजी अनुभूतियों के आधार पर किए गए बहुत से साहसिक प्रयोगों का परिणाम है।



कबीर को भक्ति की परंपरा रामानंद से मिली थी जो घोषित तौर पर सगुण ईश्वर के समर्थक थे। किन्तु कबीर राम को निर्गुण बताते हैं और निर्गुण राम की भक्ति का आह्वान करते हैं- ‘निरगुन राम जपहुँ रे भाई।’ वे सगुण राम का सायास खण्डन करते हैं- ‘दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।’ इसके बाद भी, यह ध्यान रखना जरूरी है कि कबीर ने भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कई स्थानों पर निर्गुण परमतत्व का सगुणीकरण भी किया है, जैसे- ‘हरि जननी में बालक तोरा’, ‘हरि मोरा पिऊ मैं हरि की बहुरिया’ इत्यादि। वस्तुतः कबीर की भक्ति निर्गुण-सगुण द्वंद्व से नहीं, निर्गुण-सगुण संश्लेषण से उपजी है, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकारा भी है-

“संतौ, धोखा कासूँ कहिए।

गुण मैं निरगुण, निरगुण मैं गुण, बाट छाँड़ि क्यों बहिए।”

कबीर की भक्ति तत्कालीन सभी साधना पद्धतियों और दार्शनिक विचारधाराओं के समन्वय से निर्मित हुई है। वे परस्पर विरोधी मार्गों को भी अपनी भक्ति में घुलाने में सफल हुए हैं।

कबीर की भक्ति का दार्शनिक आधार मूलतः अद्वैतवाद का है। ब्रह्म के निर्गुणत्व की धारणा, जगत के मिथ्यात्व और ब्रह्म-जीव-एकत्व जैसे विचार उन्हें शंकर से मिले हैं।

कबीर की भक्ति पर नाथपंथियों की अक्खड़ता और अमायिकता का भी गहरा प्रभाव नज़र आता है। कबीर के समय भक्ति का रास्ता अत्यंत सरल था। कबीर को यह बात नहीं पची, इसलिये उन्होंने इस रास्ते पर चलने वालों से गहरी प्रतिबद्धता की मांग की-

“कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।

सीस उतारै हाथ करि, सो पैसे घर माहिं॥”

कबीर की भक्ति में चरम तन्मयता का भाव उन बिन्दुओं पर नज़र आता है जब वे सूफियों के तसव्वुफ़ दर्शन पर आधारित भावनात्मक रहस्यवाद की स्थिति में होते हैं।

“तलफै बिनु बालम मोर जिया।

दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ कै भोर किया॥”

(विरह का भाव)

कबीर की भक्ति वैष्णव परंपरा से भी प्रभावित है। वह वैष्णव परंपरा से सगुण और अवतारी ईश्वर का विचार चाहे स्वीकार न करे, गुरु भक्ति, विनम्रता, शरणागति, जीव मात्र के प्रति करुणा का भाव और प्रपत्ति जैसे तत्व जरूर आत्मसात् करती है।

स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति बहुआयामी है। इस भक्ति में चाहे बहुत सी परंपराओं का संश्लेषण किया गया हो, किन्तु इस संपूर्ण समन्वय के भीतर जो प्रखर अनुभूतिशीलता है वह कबीर की निजी है। उनके व्यक्तित्व में ही ऐसा तेज है कि वे किसी भी प्रदत्त मार्ग को पूर्णतः नहीं स्वीकारते, उसे अपनी अनुभूतियों से तौल कर अंशतः ही स्वीकार करते हैं। इसी क्रांतिकारी व्यक्तित्व का परिणाम है कि उनकी भक्ति में न सिर्फ तत्कालीन भक्ति परंपरा के विविध पक्ष शामिल हुए हैं बल्कि योग और ज्ञान जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले मार्ग भी संश्लिष्ट हो गए हैं।

(ग) सूर के उद्भव एक प्रकार से कृष्ण (शासक) एवं गोपियों (प्रजा) के बीच बिचौलिये नेता के प्रतीक हैं। इस रूप में यह प्रतीक आज भी उतना ही प्रासंगिक है, क्या आप इस मत से सहमत हैं? अपना अभिमत सोदाहरण स्पष्ट करें।

15

उत्तर: कालजयी कविताएँ समय बदलने के साथ नये-नये अर्थों में पुनः प्रासंगिक हो उठती हैं। इस अर्थ में भ्रमरगीत एक महत्वपूर्ण रचना है जो आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक अर्थ भी रखती है।

राजनीतिक दृष्टि से देखें तो कृष्ण को जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि समझा जा सकता है। उनकी सफलता का मूल कारण यह है कि गोकुल की जनता उनसे गहरा प्रेम करती है। आज भी वही व्यक्ति चुनाव जीत पाता है जिसे जनता का स्नेह हासिल हो। कृष्ण मथुरा जाकर राजनीतिक अधिकारों से संपन्न हो गए हैं, वैसे ही जैसे लोकतंत्र में चुना हुआ प्रतिनिधि सत्ता में भागीदार होता है। कृष्ण ने गोपियों से वायदा किया है कि वे जल्दी लौटकर आएंगे और उनके भावनात्मक सूनेपन को समाप्त करेंगे। चुनाव



लड़ने वाले नेता भी वायदा करते हैं कि वे जनता के कष्टों को दूर करेंगे। कृष्ण मथुरा जाकर गोपियों को भूल गए हैं, गोकुल नहीं लौट रहे हैं। आज के नेता भी अक्सर राजधानी पहुँचकर अपने क्षेत्र की जनता से किए वायदे भूल जाते हैं, उसके पास लौटने का नाम नहीं लेते हैं।

यह प्रतीक-साम्य और आगे बढ़ता है। कृष्ण ने उद्धव को भेजा है ताकि गोपियाँ निर्गुण में ध्यान लगाएँ, कृष्ण को भूल जाएँ ताकि कृष्ण पर अपेक्षाओं का दबाव कम हो; गोपियाँ उनसे उम्मीद करना बंद कर दें तथा गोपियों में जितना क्रोध है, वह उद्धव पर ही निकल जाए। यही आज भी होता है। जब नेताओं को याद आता है कि जनता उनसे नाराज़ है तो वे कुछ बिचौलिये नेताओं को भेजते हैं, कुछ नई योजनाओं की घोषणा करवाते हैं, ताकि जनता का मूल मुद्दे से ध्यान हट जाए और उनकी नाराज़गी बिचौलिये नेताओं पर ही निकल जाए।

यह प्रतीक कथा तब और सुसंगत नज़र आने लगती है जब हम देखते हैं कि गोपियों के कुछ कथन सीधे तौर पर राजनीति पर व्यंग्य हैं। यहाँ प्रतीत होता है कि कृष्ण पर व्यंग्य करके गोपियाँ अपने समय के राजनीतिक ढाँचे पर ही व्यंग्य कर रही हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) “हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

इक अति चतुर हुते पहले ही, अरु करि नेह दिखाए।”

(ii) “वह मथुरा काजर की कोठरी, जे आवहिं ते कारे।

तुम कारे सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे॥”

किंतु, यह प्रतीक-साम्य भ्रमरगीत को समझने में बहुत दूर तक मदद नहीं करता। सूरदास के समय की राजनीतिक व्यवस्था आज की लोकतांत्रिक प्रणाली से इतनी भिन्न है कि यह प्रतीक कथा कई स्थानों पर टूटी-फूटी नज़र आती है। उदाहरणस्वरूप सूर ने स्पष्ट संकेत दिया है कि कृष्ण उद्धव को इसलिये नहीं भेजना चाहते कि गोपियों का हृदय परिवर्तन हो जाए। उन्होंने तो उद्धव को इसलिये भेजा है ताकि उद्धव गोपियों की चरम भावुकता और तन्मयता को देखकर समझ सकें कि जीवन का सारतत्त्व शुष्क सिद्धांतों और दर्शन की किताबों में नहीं बल्कि भावनाओं में डूबकर जीने में है।

स्पष्ट है कि आज की राजनीतिक प्रणाली के प्रतीकों से भ्रमरगीत की व्याख्या का प्रयास आंशिक तौर पर चाहे सफल हो, पूर्णतः नहीं हो सकता। तब भी, यह ज़रूर कहा जा सकता है कि आज की भारतीय राजनीति भ्रमरगीत की अर्थ-संरचना में एक नया आयाम जोड़ती है।

5. निम्नलिखित गद्यांशों की संदर्भ-सहित व्याख्या (लगभग 150 शब्दों में) प्रस्तुत करते हुए उनके रचनात्मक-सौंदर्य का परिचय दीजिये: 10 × 5 = 50

(क) सचमुच कुछ प्रश्नों की सफलता इसी बात में होती है कि हम उस प्रश्न तक पहुँच गए हैं। उस प्रश्न का उत्तर भी हो, इसकी अपेक्षा वहीं नहीं रहती। दूसरे शब्दों में, ऐसे प्रश्न का सही उत्तर यही होता है कि यह जिज्ञासु भाव लेकर हम जीवन की ओर लौट आयेँ और उसे जिज्ञासुवत् हो जियें।

उत्तर: प्रस्तुत पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य रचनाकार अज्ञेय के निबंध संवत्सर से उद्धृत हैं। ‘संवत्सर’ निबंध में अज्ञेय ने साहित्य के संदर्भ में अपने काल-संबंधी चिंतन को प्रस्तुत किया है। इन पंक्तियों में अज्ञेय चिंतन की सार्थकता की कसौटी की बात कर रहे हैं।

अज्ञेय कह रहे हैं कि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर खोज लेना ज़रूरी नहीं है, और यह संभव भी नहीं है। कुछ प्रश्नों की सार्थकता उन प्रश्नों को ज्ञात कर लेने में ही होती है। जिज्ञासा ही जीवन का सारतत्त्व है और जो गहन जिज्ञासा की उपलब्धि कर लेता है, वह जीवन के सही अर्थ को समझने की स्थिति में आ जाता है।

अज्ञेय आधुनिक काल के बड़े चिंतक रहे हैं। उनकी चिंतनशीलता को इन पंक्तियों में लक्षित किया जा सकता है।

शिल्प की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अत्यंत कसी हुई हैं। भाषा-प्रवाह अत्यंत उत्कृष्ट है। शब्दावली सहज, किंतु रचनात्मकता का गुण लिये हुए है।

(ख) बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है- उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है।

संदर्भ: प्रस्तुत गद्यांश प्रख्यात नाटककार जयशंकर प्रसाद के नाटक स्कंदगुप्त के चौथे अंक के सातवें दृश्य से लिया गया है। इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त के अंतर्द्वन्द्व का सुंदर चित्रण हुआ है।

व्याख्या: प्रस्तुत पंक्तियों में अपनी समस्त सेना के कुभा में बह जाने के बाद स्कंदगुप्त निराशापूर्ण मनःस्थिति में विचार कर रहा है। वह अतीत की घटनाओं से क्षुब्ध है इसलिये उन्हें भूल जाना चाहता है। पलायन के रास्ते के रूप में वह निर्वाण, समाधि यहाँ तक कि 'पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति' को भी चाहता है। उसकी चेतना के अनुसार वह एक राजा है। परंतु राजा तो प्रायः परिस्थितियों का नियंता होता है जबकि स्कंदगुप्त अनुभव करता है कि वह नियंता नहीं बल्कि परमात्मा (वटपत्रशायी बालक = भगवान विष्णु) के हाथों का खिलौना भर है। जिस राजमुकुट को वह बड़े गर्व से सिर पर धारण करता है दरअसल उस मुकुट की हैसियत तो किसी मजदूर के सिर पर रखी टोकरी के समान भी नहीं है। कुल मिलाकर इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त को विराट के समक्ष अपनी लघुता का अहसास हो रहा है।

रचनात्मक सौंदर्य

1. इन पंक्तियों में स्कंदगुप्त की घोर निराशा का चित्रण हुआ है। ऐसी ही निराशा जल प्रलय के बाद के मनु में भी देखी जा सकती है जिन्हें 'जीवन रहस्य निरुपाय' सफलता का कल्पित गेह लगता है।
2. प्रसाद मूल रूप से छायावादी कवि हैं अतः भाषा में काव्यात्मकता आ गई है और शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। स्कंदगुप्त के लिये वटपत्रशायी बालक के हाथ में खिलौने का प्रतीक अपने भीतर गहरे अर्थ समेटे हुए है।

(ग) गाँव की भीड़ बड़ी हुलसकर देख रही है यह सब दृश्य। दा साहब के इस बड़प्पन के आगे सभी नतमस्तक हो आए हैं। बड़े-बूढ़ों को तो शबरी और निषाद की कथाएँ याद हो आईं। किसी-किसी को ईर्ष्या भी हो रही है हीरा से। बेटे तो जाने कितनों के मरते हैं—पर ऐसा मान?

उत्तर: प्रस्तुत पंक्तियाँ मन्नू भंडारी द्वारा विरचित हिन्दी के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक उपन्यास 'महाभोज' से उद्धृत हैं। ये बिसू की मौत के बाद दा साहब के सरोहा दौरे से जुड़ी हैं। दा साहब सरोहा घरेलू-उद्योग योजना के उद्घाटन के लिये आते हैं तो सबसे पहले बिसू के घर जाते हैं और बिसू के पिता हीरा को अपनी गाड़ी में बिठा लेते हैं इससे एक ओर दा साहब का बड़प्पन झलकता है वहीं दूसरी ओर लोगों में हीरा से ईर्ष्या होने लगती है।

दा साहब की इस महानता को लक्षित कर गाँव के बुजुर्ग लोगों को राम-शबरी और निषाद की कथाएँ स्मृत हो आती हैं। कई ग्रामीण ईर्ष्या से भी वशीभूत हो उठते हैं। वे सोचते हैं कि बेटे तो जाने कितने लोगों के मरते हैं, पर ऐसा सम्मान भला किसको मिलता है?

रचनात्मक सौंदर्य

1. प्रस्तुत पंक्तियों के माध्यम से मन्नू भंडारी ने दा साहब की प्रदर्शन-वृत्ति के पीछे छिपे घाघपन और अवसरवादिता को व्यंजना के धरातल पर अनावृत्त किया है।
2. मौत को भी राजनीतिक अवसर के रूप में तब्दील कर देने वाली भारतीय राजनीति पर ये पंक्तियाँ करारा व्यंग्य हैं।
3. ग्रामीण लोगों की सहजता और भोलापन भी इन पंक्तियों में झलकता है जिसका फायदा अक्सर उठाया जाता है।
4. भाषा सरल, सहज और प्रभावशाली है।

(घ) मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह में पड़कर उस क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश किया है, और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिये था उससे दूर हट आया हूँ। जब भी मेरी आँखें दूर तक फैली क्षितिज रेखा पर पड़तीं, तभी यह अनुभूति मुझे सालती कि मैं उस विशाल से दूर हट आया हूँ।

उत्तर: संदर्भ एवं प्रसंग: प्रस्तुत गद्यांश मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के तृतीय अंक से लिया गया है। यह कालिदास के लंबे कथन कथन का हिस्सा है जिसमें वह मल्लिका के सम्मुख उसके द्वारा किए गए कार्यों का स्पष्टीकरण दे रहा है।

व्याख्या: कालिदास कहता है कि वह सुविधाएँ प्राप्त करने और महान कहलाने के लिये एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर गया जहाँ उसका अधिकार नहीं था। इस प्रकार अनिच्छित क्षेत्र में जाने के कारण वह अपने मूल क्षेत्र (रचना कर्म) से दूर हट गया और अब वह जब भी आत्मावलोकन करता है तो उसे अपने क्षेत्र में न होने की पीड़ा परेशान करती है।

रचनात्मक सौंदर्य:

1. कालिदास यहाँ रचनाकार का प्रतीक है। आधुनिक युग में भी रचनाकार अपना मूल रचनाकर्म छोड़कर महत्ता व सुविधाओं को स्वीकार कर लेते हैं। जो कई बार उनकी उस रचनाधर्मिता को ही नष्ट कर देता है जिसके कारण उसे वह पद व सम्मान प्राप्त हुआ था।
2. इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि सत्ता का मोह सृजनशीलता को किस तरह पथभ्रष्ट कर देता है।
3. संवाद अत्यधिक लम्बा है किन्तु उसका आंतरिक तनाव पाठक को आस्वादन प्रक्रिया से वंचित नहीं होने देता।
4. तत्समी भाषा के कारण ऐतिहासिकता बनी हुई है परंतु बोधगम्यता में कोई कमी नहीं आई है।

(ड) संसार से तटस्थ रह कर शांति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार-संबंधी उपदेश देने वालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुस कर उसके व्यवहारों के बीच सात्विक विभूति की ज्योति जगाने वालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं।

उत्तर: प्रस्तुत पंक्तियाँ हिन्दी निबंध-परंपरा के युग-प्रवर्तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध संकलन 'चिंतामणि' में संकलित निबंध 'श्रद्धा-भक्ति' से ली गई हैं। 'श्रद्धा-भक्ति' आचार्य शुक्ल के मनोविकारपरक निबंधों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। श्रद्धा और प्रेम के अंतर को रेखांकित करने के क्रम में शुक्लजी ने अपने कर्मों द्वारा श्रद्धा के पात्र बन जाने वाले व्यक्तियों (कर्त्ता) के महत्त्व को बतलाते हुए उपर्युक्त बातें लिखी हैं।

शुक्लजी लिखते हैं कि हिन्दू धर्म में जीवन से विरक्त होकर उपदेश देने वालों को उतना महव प्राप्त नहीं है जितना अपने कर्मों द्वारा सात्विकता का प्रसार करने वालों का। वे ही अवतार भी माने गए हैं।

नवजागरणकालीन अपेक्षाओं के अनुरूप आचार्य शुक्ल भारतीय संस्कृति और धर्म की समुचित व्याख्या करते हैं।

इन पंक्तियों की भाषा तत्समी है। ऐसी ही भाषा में सैद्धांतिक विवेचन किया जा सकता है। तत्समी होकर भी भाषा प्रवाहयुक्त एवं बोधगम्य बनी हुई है।

आचार्य शुक्ल अपने मंतव्य की व्यंजक शब्दावली के निर्माण के लिये भी प्रसिद्ध हैं। कर्म-सौंदर्य ऐसा ही पद है।

6. (क) 'दर्शन में प्रसाद की गहरी अभिरुचि थी जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं में घुला दिया है।' इस कथन के आलोक में 'स्कंदगुप्त' नाटक की दार्शनिक भंगिमा पर विचार कीजिये। 20

उत्तर: प्रसाद की दर्शन में गहरी रुचि थी। वे भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के गहरे अध्येता थे। अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सरणियों से विशिष्ट तत्वों का चयन करते हुए उन्होंने अपने दर्शन का ढाँचा निर्मित किया है।

प्रसाद का मूल दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' या 'आनंदवाद' है जो उन्होंने शैव परंपरा से ग्रहण किया है। इसके अनुसार, जीवन का चरम उद्देश्य समरसता की स्थिति उपलब्ध करना है जिसमें इच्छा, क्रिया व ज्ञान का असंतुलन मिट जाता है और व्यक्तित्व के भीतर आंतरिक सामंजस्य उपलब्ध होता है। देवसना का व्यक्तित्व समरसता का जीता जागता उदाहरण है। स्कंदगुप्त इसी समरसता की साधना करना चाहता है। नाटक के प्रथम वाक्य में ही उसका अधिकार सुख को 'मादक किन्तु सारहीन' कहना इसका संकेत है। यह दर्शन वहाँ और साफ़ होकर उभरता है जहाँ स्कंदगुप्त अपने जीवन का उद्देश्य इस प्रकार प्रस्तुत करता है—
"बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी संपूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये।"

'स्कंदगुप्त' में 'आनंदवाद' के अतिरिक्त कई अन्य दर्शनों की अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ती है। इनमें कुछ प्राचीन भारतीय दर्शन हैं तो कुछ आधुनिक पश्चिमी दर्शन भी। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है 'नव्य वेदांत दर्शन', जिसने शंकराचार्य की तरह जगत को मिथ्या कहने के स्थान पर उसे परम तत्व की ही आह्लादपूर्ण अभिव्यक्ति बताया था। प्रसाद के 'आनंदवाद' में भी 'नव्य वेदांत' का यह स्वर सुनायी पड़ता है। जिस प्रकार 'कामायनी' की श्रद्धा संपूर्ण जगत को 'महाचित की लीलामय अभिव्यक्ति'

बताती है, वैसे ही 'स्कंदगुप्त' की देवसेना भी जगत के कण-कण में ईश्वरीय संगीत सुनती है। वह कहती है- “विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है। प्रत्येक परमाणु के मिलने में सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है।”

प्रसाद पर बौद्ध दर्शन का भी सीमित प्रभाव नज़र आता है। जगत की सतत् परिवर्तनशीलता का बौद्ध विचार प्रसाद को आकर्षित करता है। यही बात प्रसाद ने धातुसेन से कहलवायी है जो सीधे तौर पर बौद्ध दर्शन का प्रतिनिधि है। वह कहता है- “परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है।”

नारी-पुरुष संबंधों के भीतर उन्होंने सहज काम चेतना को स्वीकार किया है। यह विचार 'कामाध्यात्मवाद' कहलाता है। यह फ्रायड के 'मनोविश्लेषणवाद' का प्रभाव है।

प्रसाद का समय 'मार्क्सवाद' के बढ़ते हुए प्रभाव का समय था। सेनापति पर्णदत्त का यह कथन समाजवादी चेतना से भरा हुआ नज़र आता है-

“अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का।”

स्पष्ट है कि 'स्कंदगुप्त' के भीतर विभिन्न दर्शनों का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। 'शैवाद्वैतवाद' के प्रति प्रसाद की निष्ठा तो जगजाहिर रही ही है, उनकी खूबी यह है कि वे अन्य दर्शनों के प्रति विरोध की मुद्रा नहीं अपनाते बल्कि उन्हें भी अपने वृहत् दार्शनिक ढाँचे में समन्वित कर लेते हैं। उनकी दार्शनिक पद्धति में प्राचीन और नवीन, भारतीय और पश्चिमी का भेद मिट गया है।

(ख) 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक पर अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव की विवेचना कीजिये।

15

उत्तर: आषाढ़ का एक दिन अस्तित्ववादी दृष्टिकोण पर आधारित नाटक है और पूरे नाटक में ऐसे कई संकेत बिखरे हुए हैं। यह दृष्टिकोण नाटक के सभी मुख्य चरित्रों की व्याख्या करने में सक्षम है।

कालिदास का व्यक्तित्व एक भावुक कवि का व्यक्तित्व है। उसके लिये स्वाभाविक जीवन यही हो सकता था कि वह ग्रामीण जीवन में प्रकृति से निकट रहते हुए साहित्यिक रचनाएँ करे। किंतु, उसकी स्वतंत्रता उसकी भौतिक परिस्थितियों व अन्य व्यक्तियों के दबाव में खंडित होती है। आर्थिक अभाव, सामाजिक तिरस्कार जैसे तत्व उसे प्रतिक्रिया करने पर मजबूर करते हैं और राजकीय निमंत्रण का प्रस्ताव कुछ अनमनेपन के साथ ही सही, वह स्वीकार कर लेता है। यह उसका पहला गलत निर्णय है क्योंकि यह निर्णय उसने अपनी अन्तरात्मा से नहीं बल्कि बाहरी दबावों से लिया था। ऐसा निर्णय स्वाभाविक रूप से व्यक्तित्व विभाजन तथा विसंगतिबोध जैसी समस्याएँ उत्पन्न करता है। कालिदास की भूल इतनी ही नहीं है, वह आगे चलकर पुनः गलत निर्णय करता है और काश्मीर का राजा बनने के लालच में अपने मूल व्यक्तित्व को पूरी तरह से भुला देता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि उसके बाहरी जीवन में सफलताएँ बढ़ती जाती हैं किन्तु आंतरिक जीवन में उसका निरर्थकता बोध भी उतना ही बढ़ता जाता है।

गलत निर्णयों का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति का जीवन विसंगतियों से भर उठता है। कालिदास का सम्पूर्ण जीवन विसंगति का ही जीवन है। व्यापक अर्थ में मल्लिका और विलोम भी विसंगति-बोध से भरा जीवन ही जी रहे हैं।

विसंगतिपूर्ण जीवन का स्वाभाविक परिणाम है- मनुष्य का अपने व्यक्तित्व से अलग हो जाना। इसे 'आत्म-निर्वासन' या 'अजनबीपन' भी कहते हैं। जब व्यक्ति ऐसी स्थितियों में जीवन व्यतीत करता है जिनमें बने रहने के लिये उसे बार-बार अपने 'स्व' की हत्या करनी पड़ती है तो धीरे-धीरे उसके लिये अपने मूल व्यक्तित्व को पहचानना ही असंभव हो जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास का आत्म-निर्वासन अस्तित्ववादी बोध से प्रभावित है-

“संभवतः पहचानती नहीं हो और न पहचानना ही स्वाभाविक है क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहचानती रही हो। दूसरा व्यक्ति हूँ, और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता हूँ।”

इस नाटक में सभी चरित्र आधे-अधूरेपन के शिकार हैं। यह आधा-अधूरापन कालिदास, मल्लिका और विलोम में जितना है, उतना ही इस नाटक के लेखन-काल के दौर के लगभग हर शहरी व्यक्ति का है। कालिदास एक ओर गाँव की आत्मीयता चाहता है तो दूसरी ओर सत्ता और सुविधा का भोग। जब तक उसे गाँव की आत्मीयता मिलती है, तब तक सत्ता नहीं मिलती। फिर सत्ता मिलती है तो आत्मीयता समाप्त हो जाती है। अंततः वह सत्ता को ठुकराकर आत्मीयता की खोज में वापस लौटता है किन्तु तब दोनों ही चीजें हाथ से फिसल जाती हैं। मल्लिका को सिर्फ कालिदास के प्रेम की ज़रूरत है; विलोम से उसे नफरत है; और धन, वैभव तथा सत्ता उसकी चिंतन परिधि के अंग हैं ही नहीं। विडम्बना यह है कि कालिदास उसे नहीं मिलता और आर्थिक

अभावों की मजबूरी उसे विलोम के सामने अपनी देह का समझौता करने को बाध्य कर देती है। उसके शरीर पर विलोम का नियंत्रण है, भावनाओं पर कालिदास का। यही अधूरापन उसकी नियति है। विलोम का अधूरापन शुरु से ही स्पष्ट है। वह कालिदास की तरह कविता भी लिखता है और मल्लिका से प्रेम भी करता है किन्तु उसे दोनों ही अनुपलब्ध हैं। न उसकी कविता को सम्मान मिलता है, न ही उसे मल्लिका का प्रेम मिलता है। अंत में मल्लिका को जीत कर भी वह उसके भाव जगत में स्थान नहीं बना पाता। यही अधूरापन उसकी भी नियति है।

स्पष्ट है कि 'आषाढ़ का एक दिन' स्वाधीन भारत के जिस मध्य वर्ग की नियति को प्रस्तुत करता है, उसकी चेतना में वे सभी पक्ष उपस्थित हैं जिन्हें अस्तित्ववादी चिंतकों ने जीवन के विश्लेषण में उभारा है। प्रामाणिकता की खोज, चयन की स्वतंत्रता, आत्मनिर्वासन, विसंगतिबोध, विडम्बनाबोध, अधूरापन-ये सभी तत्व इस नाटक के कथानक में गुंथे हुए हैं।

(ग) 'भारत-दुर्दशा' नाटक की रंगमंचीयता पर विचार कीजिये।

15

उत्तर: नाटक की पूर्ण सार्थकता उसके सफलतापूर्वक मंचित होने में ही है। नाटक की सफल अभिनेयता इस बात से निर्धारित की जा सकती है कि उसमें दृश्य विधान, अभिनय संकेत, वेश-भूषा, ध्वनि तथा प्रकाश जैसी व्यवस्थाओं के संकेत पर्याप्त मात्रा में दिये गए हैं अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त उसकी भाषा, चरित्र योजना, कथानक का विकास जैसे तत्व सफल मंचन हेतु सहायक हो पाते हैं या नहीं। इन्हीं आधारों पर भारत-दुर्दशा का विश्लेषण किया जा सकता है।

भारत दुर्दशा का दृश्य विधान सरल तथा प्रभावशाली है। छह अंकों के इस नाटक में छह ही दृश्य हैं, अतः दृश्यों की संख्या इतनी अधिक नहीं कि निर्देशक के लिये बार-बार दृश्य परिवर्तन करने की समस्या उठ खड़ी हो। दृश्य विधान सरल भी है।

नाटककार ने मंचन की सहजता हेतु अपनी ओर से कई प्रयास किए हैं। सबसे पहले अभिनय संकेतों को देखा जा सकता है। भारतीय नाट्य परम्परा में रंग संकेत देने की परम्परा कम रही है किन्तु भारतेन्दु ने कम से कम चार-पाँच प्रसंगों में अभिनय संकेत दिये हैं। उदाहरण के लिये-

आलस्य- “मोटा आदमी जम्हाई लेता हुआ, धीरे-धीरे आता है।”

भारतेन्दु के समय मंचीय विधान पर्दे पर आधारित था। भारतेन्दु की कल्पनाशीलता का ही प्रमाण है कि उन्होंने एक स्थान पर प्रकाश व्यवस्था का सक्रिय प्रयोग किया है।

नाटक के प्रभावशाली मंचन में ध्वनि तत्व के प्रयोग की भूमिका प्रबल होती है। पार्श्व ध्वनियों के प्रयोग की विशेष परंपरा तो भारतेन्दु के सामने नहीं थी किन्तु सीमित रूप से उन्होंने इसका भी प्रयोग किया है।

इन सभी तत्वों के साथ वेश-भूषा अर्थात् आहार्य अभिनय के प्रति भी भारतेन्दु ने ध्यान दिया है। उन्होंने विभिन्न चरित्रों की वेश-भूषा का स्पष्ट अंकन किया है। उदाहरण के लिये-

भारत- 'फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरिट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग'।

इन सब सावधानियों के साथ-साथ भारत दुर्दशा की रंगमंचीय सफलता में भाषायी सहजता, चुस्त संवाद योजना तथा मुहावरों, लोकोक्तियों और हास्य व्यंग्य के प्रयोग की भी बड़ी भूमिका है।

किन्तु, भारत दुर्दशा की रंगमंचीयता निरापद नहीं है। गीतों की अधिकता, चरित्रों की अधिकता और उनकी प्रतीकात्मकता, संवाद योजना में कहीं-कहीं लम्बे स्वगत कथन, कहीं-कहीं रंग संकेतों की कमी आदि रंगमंचीयता में बाधक हैं।

इन सीमाओं के बावजूद यह तथ्य ध्यान रखा जाना चाहिये कि भारतेन्दु के जीवनकाल में ही लखनऊ, बनारस और बलिया आदि स्थानों पर इस नाटक का सफल मंचन किया जा चुका था। आज भी यदि निर्देशक को थोड़ी सी स्वाधीनता प्रदान की जाए तो गीतों को कुछ काँट-छाँट कर तथा भाषा को कुछ समसामयिक बनाकर इसका प्रभावशाली मंचन करना कठिन नहीं है।

7. (क) 'स्कंदगुप्त' नाटक में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना पर प्रकाश डालिये।

20

उत्तर: स्कंदगुप्त बाह्य विधान में ऐतिहासिक नाटक है किन्तु इसका उद्देश्य तत्कालीन राष्ट्रीय संघर्ष को ही व्यक्त करना है। प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना संश्लिष्ट है जो उनके अन्य नाटकों की तरह स्कंदगुप्त में भी कई स्तरों पर प्रकट हुई हैं-

राष्ट्रीयता की अनिवार्य शर्त है राष्ट्र के प्रति गौरव भावना। स्कंदगुप्त नाटक में यही गौरव भाव कई स्थानों पर व्यक्त हुआ है।

“हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।

उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार।”



राष्ट्रीयता की चेतना होने पर देश पर विपदा का समय हो तो उसके प्रति दुख का भाव स्वाभाविक है। स्कंदगुप्त कहता है-

“आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों से देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे त्याग अधिकार की आवश्यकता नहीं।”

राष्ट्रीय चेतना का अनिवार्य प्रसंग है। देवसेना और भीमवर्मा अपने राज्य को देश पर न्यौछावर करना चाहते हैं। समस्त देश के कल्याण के लिये वे स्वार्थों की बलि देने के लिये तैयार हैं। भीमवर्मा कहता है-

“समस्त देश के कल्याण के लिये - एक कुटुंब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो भाभी!....देखो हमारा आर्यावर्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें.....।”

राष्ट्रीय चेतना के कारण ही प्रसाद ने विदेशी पात्रों द्वारा भी भारत की प्रशंसा करायी है। जिस देश के निवासियों में हीनता की भावना भर गई हो एवं उसका आत्म-विश्वास मर गया हो, ऐसे में विदेशी पात्रों द्वारा प्रशंसा करवाना मनोवैज्ञानिक स्तर पर राष्ट्रीय स्वाभिमान को विकसित करने का एक श्रेष्ठ प्रयत्न है। नाटक में श्रीलंका का धातुसेन कहता है-

“भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वंसुधरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वंसुधरा का हृदय - भारत - किस मूर्ख को प्यारा नहीं है?”

जो शक्तियाँ राष्ट्र को विभाजित करती हैं, उनका सामना करना हर राष्ट्र प्रेमी नागरिक का दायित्व है। ये विभाजक शक्तियाँ एक हद तक वही हैं जो आज भी भारत में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। साम्प्रदायिकता की समस्या स्कंदगुप्तकालीन भारत में उस रूप में विद्यमान नहीं थी, जिस रूप में यह 1928 ई. के भारत में थी। फिर भी, प्रसाद ने हिंदू-बौद्ध संघर्ष के प्रतीक से 1928 ई. की हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उभारा है और एक लम्बे तनावपूर्ण संघर्ष के बाद दोनों सम्प्रदायों में दार्शनिक व भावनात्मक स्तर पर समन्वय की चेष्टा की है।

राष्ट्रीय चेतना की शर्त यह भी है कि देशद्रोहियों के प्रति घृणा का भाव हो। स्कंदगुप्त में दो तरह के पात्र हैं। नाटक में राष्ट्रविरोधी चरित्रों के प्रति वितृष्णा साफ-साफ दिखाई देती है।

हर देश में कुछ लोग अपने राष्ट्र को हीन समझते हैं एवं दूसरी संस्कृतियों की महानता का राग अलापते रहते हैं। प्रसाद के समय का बुद्धिजीवी वर्ग भी ऐसा था। राष्ट्रीयता के लिये अपने राष्ट्र से अखंड प्रेम आवश्यक है। इसलिये प्रसाद ने ऐसे चरित्रों पर चोट की है जो उधार की संस्कृति के पीछे अपने राष्ट्र के महत्व को भूल जाते हैं। सैनिक भटार्क से कहता है-

“यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिस पर भी यह निर्लज्ज आमोद।”

प्रसाद ने काल्पनिक राष्ट्रीयता का विरोध किया है। प्रसाद की कल्पना एक ऐसे राष्ट्र की है जहाँ वर्ग समानता हो तथा प्रत्येक को भय-भूख से मुक्ति मिले। पर्णदत्त कहता है-

“अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिये - हम भूखों के लिये-रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिये उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिये नहीं?”

सन् 1928 तक गांधीवादी नीतियों से मोहभंग होने लगा था। क्रान्तिकारी आतंकवाद का यह दूसरा दौर था। इस काल में लिखे गए स्कंदगुप्त नाटक में प्रसाद शांति के ही पक्षधर बन कर आए हैं, परन्तु यदि मार्ग में युद्ध से भी जूझना पड़े तो उन्हें स्वीकार्य है। जयमाला का निम्नलिखित कथन उनके इसी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है-

“युद्ध क्या गान नहीं है? रूद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। ध्वंसमयी महामाया - प्रकृति का वह निरंतर संगीत है।”

समग्र स्कंदगुप्त में गहरी एवं सुचिंतित राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है।

(ख) क्या ‘भारत-दुर्दशा’ नाटक नवजागरण चेतना को अपने भीतर समाहित करने में सफल हो पाया है? सोदाहरण उत्तर दीजिये।

15

उत्तर: भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के लेखक हैं और यह समय भारतीय समाज में सबसे गहरे संक्रमण का साक्षी रहा है। इस दौर में भारतीय समाज पहली बार अंग्रेजों की संस्कृति से परिचित हुआ और उसके प्रति असमंजस, आकर्षण और विस्मय जैसे भाव को महसूस किया और यही पृष्ठभूमि भारतीय नवजागरण का आधार बनी।



नवजागरण चेतना के अंतर्गत आमतौर पर अतीत की महानता को उभारा जाता है। अतीत की महानता इन पंक्तियों में स्पष्टतः दिखाई देती है-

“सबके पहले जेहि ईश्वर धन बल दीनो,
सबके पहले जेहि सभ्य विधाता कीनो।”

अपनी दुर्दशा की चिंता नवजागरण के केंद्र में होती है। भारत दुर्दशा में भी यह चिंता केंद्र में है। ‘हाहा भारत दुर्दशा न देखी जाई’ का विलाप भी इसी चिंता का परिणाम है। नाटक के विभिन्न पात्रों की बैठक भी इसी ओर संकेत करती है।

नवजागरण चेतना का तीसरा पक्ष है अपनी दुर्दशा के कारणों की खोज करना तथा उन्हें दूर करने का प्रयास करना। नवजागरण की चेतना से युक्त रचनाकार अपनी दुर्दशा का ठीकरा दूसरों के सिर पर नहीं फोड़ता बल्कि कारणों की तलाश अपने समाज के भीतर करता है। भारतेंदु ने उन कारणों की पूरी पड़ताल की है जो दुर्दशा के लिये जिम्मेदार हैं। धर्म, आलस, मोह, अनावृष्टि, सूखा, मदिरापान, फैशन, महामारी कुछ ऐसे ही तत्व हैं। भारतेंदु ने भारत के पतन में धर्म की भूमिका की पहचान सफलतापूर्वक की है। उनके अनुसार धर्म की वजह से विभिन्न मत-मतान्तरों में हुआ विभाजन ही देश को ले डूबा। भारतेंदु ने धन के बहिर्गमन की भी पतन के एक कारण के रूप में पहचान की है-

“अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलो जात यहै अति ख्वारी।”

नवजागरण चेतना का एक अनिवार्य पक्ष है कि हम दूसरी संस्कृति के अच्छे मूल्यों को आत्मसात करना चाहते हैं। अंग्रेजी संस्कृति के जो मूल्य भारत को आकर्षित कर रहे थे उनमें इहलोकवाद, वैज्ञानिक शिक्षा, समानता, स्वतंत्रता आदि प्रमुख थे। भारतेंदु ने भी ऐसे कुछ मूल्यों को सीखने की ललक दिखाई है-

“देखो विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ चला आता है।”

स्पष्ट है कि भारत दुर्दशा का प्रतिपाद्य नवजागरण की चेतना का प्रसार करना है। इस दृष्टि से यह सिर्फ साहित्यिक रचना न होकर समाज को बदलने के लिये अपनी ठोस भूमिका निभाने वाली रचना है।

(ग) ‘देवसेना’ हिन्दी नाट्य परंपरा की अविस्मरणीय चरित्र है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? सहमति या असहमति के कारण बताइए।

15

उत्तर: देवसेना ‘स्कंदगुप्त’ नाटक की सर्वप्रमुख नारी चरित्र है और हिन्दी नाटक की विकास-यात्रा में सृजित सर्वाधिक सशक्त नारी चरित्रों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रसिद्ध आलोचक नगेन्द्र के अनुसार, “ऐतिहासिक नाटकों की सर्वोत्तम नायिका देवसेना प्रसाद की चरित्र सृष्टि की कोमल कल्पना की अमर उपज है।” वस्तुतः देवसेना के चरित्र की विभिन्न विशिष्टताएँ उसे हिन्दी नाट्य परंपरा का अविस्मरणीय चरित्र बना देती हैं जो इस प्रकार हैं-

देवसेना एक भावनात्मक नारी है। स्कंदगुप्त एवं विजया के प्रेम को जानकर यही भावुकता आध्यात्मिकता में बदल जाती है। वह विजया के रास्ते में बाधा नहीं बनना नहीं चाहती, यह उसके चरित्र की उदात्तता है-

“विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूंगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता”।

वह सारे दुख मन में समेटे चुपचाप अलग हो जाती है। यह प्रेम का औदात्य है। अन्त तक उसे यही दुख रहता है कि विजया उसे गलत समझती है। प्रेम के इस वेदनापूर्ण समय में भावुकता आध्यात्मिकता में एवं वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल जाती है।

देवसेना हृदय को नियंत्रित करना जानती है। वह अपने दुख को संगीत में भुला देना जानती है।

“..... चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ।”

नाटक के उत्तरार्द्ध में प्रेम की अपूर्णता की वेदना में होने के बावजूद वह लोकजीवन से संपृक्त है। वह अपने सामाजिक कार्यों में रत है। यहाँ तक कि निम्न व्यक्तियों की उक्तियों के भय से भी अपने कर्तव्य से नहीं हिलती। वह पर्णदत्त से कहती है-

“क्या है बाबा! क्यों चिढ़ रहे हो। जाने दो, जिसने नहीं दिया, उसने अपना; कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।”

देवसेना के जीवन का चरम मूल्य त्याग है। त्याग जरूरत के समय आदर्श है। देवसेना कई जगह ऐसे त्याग करती है जहाँ परिस्थितियाँ त्याग नहीं मांगतीं। विजया की आत्महत्या, आर्यावर्त की विजय के बाद स्कन्दगुप्त, देवसेना का मिलन संभव था किन्तु देवसेना त्याग के पक्ष में कहती है -

“कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिये। मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!”

दरअसल यह त्याग उस छायावादी मानसिकता से निकला है जो मिलन से मानसिक वेदना को अधिक महत्व देती है।

8. (क) ‘आषाढ़ का एक दिन’ शीर्षक की सार्थकता पर विचार कीजिये। क्या आप इस नाटक का इससे बेहतर नाम प्रस्तावित कर सकते हैं? 20

उत्तर: किसी भी रचना के शीर्षक की सार्थकता की मूलभूत कसौटी यही हो सकती है कि क्या वह शीर्षक रचना के मूल प्रतिपाद्य को व्यंजित करने में सफल हो पाया है? ‘आषाढ़ का एक दिन’ नाटक का मूल लक्ष्य सत्ता व सृजनशीलता के द्वंद्व तथा आधुनिक मनुष्य के आत्मविखंडन, आत्मनिर्वासन व विसंगतिपूर्ण जीवन की नियति का उद्घाटन है। ऐसे में इस नाटक के शीर्षक का इनसे जुड़ी शब्दावली से भिन्न एक प्राकृतिक स्थिति पर आधारित होने के कारण इसकी सार्थकता का प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

प्रसिद्ध संस्कृत रचनाकार कालिदास की प्रसिद्ध रचना मेघदूत में एक प्रसिद्ध कथन के रूप में ‘आषाढ़स्ये प्रथम दिवसे’ का प्रयोग हुआ है और उसी का अनुवाद राकेश ने इस नाटक के शीर्षक के रूप में किया है जो कि ‘भोगे हुए यथार्थ’ की व्यंजना के साथ-साथ कई अन्य धरातलों पर भी अपनी सार्थकता सिद्ध करता है।

नाटक में आषाढ़ का महत्व तब समझ आता है जब कालिदास गाँव में लौटकर ग्रामीण जीवन के प्रति अपनी सम्बद्धता को आषाढ़ के माध्यम से ही व्यक्त करता है-

“मुझे वर्षों पहले यहाँ लौट आना चाहिये था ताकि यहाँ वर्षा में भीगता, भीगकर लिखता- वह सब जो मैं अब तक नहीं लिख पाया और जो आषाढ़ के मेघों की तरह वर्षों से मेरे अन्दर उमड़ रहा है।”

यह एक स्थितिप्रधान नाटक है, न सिर्फ इसलिये कि घटनाओं से ज्यादा महत्व स्थितियों की सघनता का है बल्कि इसलिये भी कि चरित्रों ने स्थितियों को नहीं बल्कि स्थितियों ने चरित्रों को निर्धारित किया है। ऐसे नाटक का उपयुक्त नामकरण स्थितिमूलक ही हो सकता था। ‘आषाढ़ का एक दिन’ प्रतीकात्मक रूप से वह स्थिति है जिसमें कालिदास का कवित्व विकसित हुआ था और जिससे वंचित होने पर वह सूख गया है।

आषाढ़ के मेघों को यहाँ प्रतीक की तरह इस्तेमाल किया गया है। ये मेघ मिलन के क्षणों में बरसते अधिक हैं और तनाव के क्षणों में गरजते अधिक हैं। कभी ये मेघ संदेशवाहक बन जाते हैं क्योंकि मल्लिका को जब कालिदास से संवाद करना होता है तो वह मेघों के बीच चली जाती है। मल्लिका मेघों के निकट ही बनी रहती है अर्थात् अपनी भावनाओं से अलग नहीं होती। कालिदास मेघों से दूर चला जाता है और एक यांत्रिक व भावनारहित जीवन जीने के बाद फिर मेघों की दुनिया में लौटना चाहता है। स्पष्ट है कि आषाढ़ का दिन इस नाटक में एक घटना मात्र नहीं है बल्कि संपूर्ण कथानक को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम है।

यदि नाटक का नाम किसी चरित्र पर जैसे ‘कालिदास’ या ‘मल्लिका’ रखा जाता तो लघुमानव की अवधारणा न उभर पाती जबकि राकेश चरित्रों को स्थितियों से छोटा दिखाना चाहते थे। यदि नामकरण घटनामूलक होता जैसे ‘कालिदास गमन’, तो नाटक में घटना या संयोग का महत्व स्थितियों से अधिक हो जाता। यदि राकेश अस्तित्ववादी शब्दावली को नाटक का आधार बनाते जैसे ‘आत्मनिर्वासित’ या ‘लघुमानव’ तो नाटक की बोधगम्यता कमजोर हो जाती। सच यही है कि यह नाटक का सर्वश्रेष्ठ नामकरण है क्योंकि यह कालिदास से सम्बद्धता भी व्यक्त करता है, नाटक के स्थितिमूलक होने की गहराई भी व्यक्त करता है और कालिदास के समय से आज तक के जीवन को एक प्राकृतिक घटना के प्रतीक से बांध भी लेता है।

(ख) ‘आषाढ़ का एक दिन’ नाटक में इतिहास और कल्पना के समन्वय पर प्रकाश डालिये। 15

उत्तर: ‘आषाढ़ का एक दिन’ नाटक में एक ऐतिहासिक सी प्रतीत होने वाली कथा को आधार बनाया गया है। इसमें इतिहास नहीं है, इतिहास का केवल एक आवरण है। तथ्यात्मक स्तर पर देखें तो हम पाते हैं कि जो तथ्य नाटक में प्रयुक्त हुए हैं, वे ऐतिहासिक रूप से कम और मिथकीय रूप से ज्यादा प्रामाणिक हैं। कालिदास के सम्बंध में कुछ तथ्य भारत के सामाजिक जीवन में भली-भांति प्रचलित हैं, जैसे - उनका काली का भक्त होना, वेश्यागामी होना, प्रारंभ में तिरस्कृत रहना, फिर राजकुमारी से

विवाह करना व अंततः हिमालय का वासी होना। राजतरंगिणी में कालिदास के मातृगुप्त के रूप में कश्मीर का शासक बनने की बात है। यही धारणा प्रसाद के स्कंदगुप्त में भी है। इसी आलोक में राकेश ने उसे तथ्य के रूप में स्वीकार किया है।

नाटक के बाकी सभी चरित्र, सारी घटनाएँ और सारी स्थितियाँ काल्पनिक हैं। प्रियंगु, मल्लिका, अंबिका, विलोम, मातुल, रंगिणी-संगिणी, अनुस्वार, अनुनासिक आदि सभी चरित्र काल्पनिक ही हैं। अतः स्पष्ट है कि नाटक इतिहास के बहुत थोड़े से प्रसंगों को लेकर उनके साथ कल्पना का अत्यधिक प्रयोग करते हुए कथानक की सृष्टि करता है।

कुछ आलोचकों ने प्रश्न उठाया है कि इतिहास के साथ यह छेड़छाड़ क्या साहित्यकार की नैतिकता हो सकती है? इस सम्बंध में दो-तीन बातें ध्यान रखनी आवश्यक हैं। राकेश ने कल्पना का प्रयोग चाहे अधिक किया हो, प्रायः किसी ऐतिहासिक तथ्य को गलत रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। दूसरे, यह नाटक न तो घटना प्रधान नाटक है, न चरित्र प्रधान। यह एक स्थिति प्रधान नाटक है। इतिहास के तथ्य घटनाओं और चरित्रों तक सीमित होते हैं, मनोवैज्ञानिक स्थितियों तक उनकी पहुँच नहीं होती। उदाहरणतया बार-बार आषाढ़ के मेघों का बरसना, मल्लिका और अंबिका; कालिदास और विलोम के तनावपूर्ण सम्बंधों का जटिल होते जाना नाटक के प्रमुख तत्त्व हैं और इतिहास ऐसे तत्त्वों की व्याख्या नहीं कर सकता। वस्तुतः राकेश की इतिहास दृष्टि बर्नार्ड शॉ जैसी है जिनके लिये इतिहास का सम्बंध तथ्यों से नहीं, अंतःप्रज्ञा (intuition) से है।

अंतिम बिंदु यह है कि इतिहास के वातावरण को सृजित करके इस नाटक को क्या सफलता मिली? वस्तुतः नाटक का उद्देश्य वातावरण को ऐतिहासिक बनाना नहीं अपितु आज के रचनाकार की पीड़ा, वेदना और संक्रांस को शाश्वतता प्रदान करना है। यह नाटक इतिहास के कुछ तथ्यों का इस प्रकार सर्जनात्मक प्रयोग करता है कि वे तथ्य अपने ऐतिहासिक संदर्भ से मुक्त होकर मानव के शाश्वत और सामान्य अनुभव के अंग बन जाते हैं।

(ग) क्या भारत-दुर्दशा को एक त्रासदी माना जा सकता है? तर्कपुष्ट उत्तर दीजिये।

15

उत्तर: त्रासदी यूनानी साहित्य की एक प्राचीन विधा है। सामान्य दृष्टि से त्रासदी ऐसी हर रचना को कहा जा सकता है जिसका अंत नायक की सफलता में न होकर दुख और पीड़ा की सघन अनुभूति में हो। नायक का खलनायक के हाथों पराजित होना, नैतिक व मानसिक स्तर पर टूट जाना तथा मृत्यु को प्राप्त होना— ये सब दृश्य प्रायः त्रासदी के अंत में दिखाई पड़ते हैं। किंतु, यदि त्रासदी के व्यवस्थित ढाँचे तथा नियमों को आधार बनाएँ तो किसी रचना का त्रासदी होना कई अन्य कारकों पर भी निर्भर होता है, जैसे द्वंद्व की सघन उपस्थिति के कारण कथानक का वक्र होना; नायक का भद्र, साहसी व सत्य के पक्ष में संघर्षशील होना; नायक की अति नैतिकता से उत्पन्न गंभीर भूल अर्थात् हैमर्शिया के कारण नायक का पतन की ओर बढ़ना; कथानक का पाँच क्रमबद्ध चरणों (व्याख्या, विकास, चरम बिंदु, निगति तथा पतन) से गुजरना तथा रचना के अंत में विरेचनमूलक प्रभाव का उत्पन्न होना ऐसे प्रमुख लक्षण हैं।

भारत दुर्दशा त्रासदी है या नहीं— इसका निर्णय दो स्तरों पर भिन्न-भिन्न तरीकों से किया जा सकता है—

सामान्य दृष्टि से देखें तो इसे इस अर्थ में त्रासदी माना जा सकता है कि इसका अंत बेहद दुखद है। भारत का अत्यंत कमजोर होना, आंतरिक व बाह्य कमजोरियों के कारण उसका दुर्दशाग्रस्त होना, तमाम कोशिशों के बावजूद उसका पुनः न उठ पाना— ये सभी तथ्य नाटक के अंत को दुखद बनाते हैं।

किंतु, यदि त्रासदी की तकनीकी धारणा के आलोक में भारत दुर्दशा का मूल्यांकन करें तो कई समस्याएँ दिखाई पड़ती हैं। सर्वप्रथम, इसका नायक भद्र, दृढ़, साहसी और नैतिक नहीं है। खलनायक की दहाड़ सुनकर ही वह बेहोश हो गया है और भारत भाग्य द्वारा उसे जगाए जाने की अनेकानेक कोशिशों के बाद भी वह होश में नहीं आता। कथानक वक्र न होकर रैखिक है, उसमें द्वंद्व पूर्णतः अनुपस्थित है। नायक का पतन किसी हैमर्शिया के कारण होता हुआ नज़र नहीं आता बल्कि अपनी ही आंतरिक कमजोरियों का परिणाम दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार, नाटक के अंत में दुख महसूस तो होता है, किंतु यह उतना घना और मार्मिक नहीं है कि उसे 'विरेचन' कहा जा सके।

उपरोक्त विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत दुर्दशा सामान्य अर्थ में ही त्रासदी के निकट है; त्रासदी के पारंपरिक, तकनीकी व ढाँचागत अर्थ में उसे त्रासदी नहीं कहा जा सकता। यह भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि भारतेंदु की योजना त्रासदी लिखने की नहीं थी, इसलिये यह भारतेंदु या भारत दुर्दशा की विफलता भी नहीं है।